जैन दर्शन के आलोक में नयवाद और द्रव्यवाद

—श्री रमेश मुनि शास्त्री

नयवाद जैन दर्शन का एक अतीव मौलिक और अति विशिष्ट वाद है। चेतन एवं अचेतन के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिये प्रस्तुत वाद एक सर्वांग पूर्ण दृष्टिकोण व्यक्त करता है और भिन्न-भिन्न एकान्तिक दृष्टियों में आधारभूत समन्वय स्थापित करता है। स्याद्वाद सिद्धान्त का यही मूल आधार है।

नयवाद को समझने के लिये यह नितान्त अनिवार्य है कि उनके मूल को जानने का प्रयास किया जाए। सामान्य रूपेण वैचारिक जगत में तीन धाराएँ प्रवाहित हैं। वे ये हैं—ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी। जो विचार संकल्प मूलक होता है, उसे ज्ञानाश्रयी कहते हैं। नैगमनय ज्ञानाश्रयी विचार धारा है। जो अर्थ की मीमांसा करता है वह अर्थाश्रयी विचार है। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र ये तीनों नय अर्थाश्रयी विचार-धारा को लिये हुए हैं। ये नय अर्थ के भेद और अभेद की मीमांसा करते हैं। अर्थाश्रित अभेद व्यवहार को संग्रह नय में लिया गया है। शब्दाश्रयी विचार धारा वह है जो शब्द को प्रधान मानकर चलती है। शब्द, समभिरुढ़ और एवंभूत ये तीनों नय शब्दाश्रयी विचार हैं।

अभेद संग्रह दृष्टि का प्रमुख आधार है और भेद व्यवहार दृष्टि का प्रधान आधार है। संग्रहनय भेद को स्वीकार नहीं करता है और व्यवहार नय अभेद को नहीं मानता है। नैगम नय का आधार है भेद और अभेद, ये दोनों एक पदार्थ में विद्यमान हैं। ये सर्वथा रूप से एक हैं, दो नहीं। परन्तु मुख्य एवं गौण भाव से दो हैं। इस दृष्टिकोण में प्रमुखता एक की ही रहती है। द्वितीय सन्मुख रहता है पर गौण रूप से। कभी धर्म मुख्य बनता है और कभी धर्मी मुख्य बन जाता है। प्रयोजन और अपेक्षा के अनुसार क्रम में परिवर्तन होता रहता है। ऋजुसूत्र नय का आधार है चरम भेद। यह केवल वर्तमान पर्याय को ही यथार्थ मानता है, उसे ही वास्तविक मानता है। पूर्व एवं पश्चात् की पर्यायों को नहीं। शब्द भेद के अनुसार अर्थ का भेद होता है। यही शब्द नय का मूल आधार है। प्रत्येक शब्द का अर्थ अलग-अलग है। एक अर्थ के दो वाचक नहीं होते हैं। यही समभिरुढ़ नय की मूल भित्ति है। एवंभूत नय के अनुसार अर्थ के लिये शब्द प्रयोग उसकी प्रस्तुत क्रिया के अनुसार होना चाहिये। समभिरूढ़ नय अर्थ की क्रिया में अप्रवृत्त शब्द को उसका वाचक मानता है। वह वाचक और वाच्य के प्रयोग को त्रैकालिक मानता है। किन्तु एवंभूत नय वाच्य-वाचक के प्रयोग को केवल वर्तमान काल में ही स्वीकार करता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सात नयों के विषय इस रूप में बनते हैं :

(१) नैगम—अर्थ का भेद, अभेद और दोनों
(२) संग्रह—अभेद
  (क) पर संग्रह—चरम अभेद
  (ख) अपर संग्रह—अवान्तर अभेद
(३) व्यवहार—भेद, अवान्तर भेद
(४) ऋजुसूत्र—चरम भेद
(५) शब्द—भेद
(६) समभिरूढ़—भेद
(७) एवंभूत—भेद

इन सात नयों में संग्रह नय की दृष्टि अभेद है। भेद दृष्टियाँ पाँच हैं और नैगम नय की दृष्टि भेद और अभेद—दोनों से संयुक्त है। वह संयुक्त दृष्टि इस तथ्य का संसूचक है कि अभेद में ही भेद है और भेद में ही अभेद है। जैन दर्शन ने भेद के साथ ही अभेद को स्वीकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है। चेतन और अचेतन ये दोनों पदार्थ ही सत् हैं। अतएव सत्व की अपेक्षा से अभिन्न हैं। पर इन दोनों में स्वभाव भेद अवश्य है, इसलिये भिन्न है। वास्तव में अभेद और भेद दोनों तात्त्विक हैं। क्योंकि भेद-शून्य अभेद में अर्थ क्रिया नहीं होती है, विशेष में ही अर्थ क्रिया होती है। परन्तु अभेद शून्य भेद में भी अर्थ क्रिया नहीं होती है, कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं मिलता है। पूर्व क्षण उत्तर क्षण का कारण तभी बनता है जबकि दोनोंमें एक ध्रुव, अर्थात् अभेदांश, अन्वयी माना जाए। एतदर्थ ही जैन दर्शन अभेदाश्रित भेद, और भेदाश्रित अभेद को मानता है। नय के मुख्य भेद दो हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। नैगम, संग्रह, व्यवहार व ऋजुसूत्र चार नय द्रव्यार्थिक हैं और शब्द, समभिरुढ़ और एवंभूत तीन नय पर्यायार्थिक हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से नय का वर्गीकरण दो प्रकारसे हुआ है—निश्चय नय और व्यवहार नय। जो नय पदार्थ के मूल और पर-निरपेक्ष स्वरूप को बतलाता है वह निश्चय नय कहलाता है और जो नय पराश्रित दूसरे पदार्थों के निमित्त से समुत्पन्न पदार्थ-स्वरूप को बतलाता है उसे व्यवहार नय कहते हैं। निश्चय नय भूतार्थ है और व्यवहार नय अभूतार्थ है। तात्पर्य की भाषा में यों भी कहा जा सकता है कि पदार्थ के पारमार्थिक तात्त्विक शुद्ध स्वरूप का ग्रहण निश्चय नय से होता है और अशुद्ध अपारमार्थिक स्वरूप का ग्रहण व्यवहार नय से होता है। व्यवहार नय के मुख्य प्रकार दो हैं: सद्भूत व्यवहार नय और असद्भूत व्यवहार नय। एक पदार्थ में गुण-गुणी के भेद से, भेद को विषय करने वाला सद्भूत व्यवहार नय है। इसके भी दो प्रकार हैं: उपचरित सद्भूत व्यवहार नय, एवं अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय। सोपाधिक गुण और गुणी में भेद ग्रहण करने वाला उपचरित् सद्भूत व्यवहार नय है। निरुपाधिक गुण और गुणी में भेद ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जिस प्रकार जीव का मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि लोक में व्यवहार होता है व्यवहारमें उपाधि रूप ज्ञानावरण कर्म के आवरण से कलुषित आत्मा का मल सहित ज्ञान होने से जीव के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि ज्ञान और मनःपर्यव ये चारों क्षयोपशमिक ज्ञान सोपाधिक हैं। अतएव इसे उपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद को ग्रहण करने वाला अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। उपाधि से मुक्त गुण के साथ जब उपाधि रहित जीव का सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है तब निरुपाधिक गुण-गुणी के भेद से अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय सिद्ध हो जाता है। जैसे केवल ज्ञान आत्मा का सर्वथा निरावरण क्षायिक ज्ञान है। अतएव वह निरुपाधिक है। असद्भूत व्यवहार नय के दो प्रकार हैं: उपचरित असद्भूत व्यवहार नय एवं अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय। संश्लेष युक्त पदार्थ के सम्बन्ध को विषय करने वाला जो नय है वह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव का शरीर। यहाँ पर जीव और देह का सम्बन्ध परिकल्पित नहीं है। किन्तु जीवन पर्यन्त स्थायी होने से अनुपचरित है। जीव एवं देह के भिन्न होने से वह असद्भूत व्यवहार भी है। संश्लेष रहित पदार्थ के सम्बन्ध को विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे रामप्रसाद का धन! यहाँ पर रामप्रसाद का धन के साथ सम्बन्ध माना गया है। किन्तु वास्तव में वह परिकल्पित होने से उपचरित है। रामप्रसाद और धन ये दोनों वस्तुतः भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। एक नहीं हैं। रामप्रसाद और धन का यथार्थ सम्बन्ध नहीं है।

निश्चय नय पर-निरपेक्ष स्वभाव का प्रतिपादन करता है। जिन-जिन पर्यायों में पर-निमित्त पड़ जाता है उन्हें वह शुद्ध नहीं कहता है। पर-जन्य पर्यायों को वह पर मानता है। जैसे जीव के राग-द्वेष, काम-क्रोध, मोह-लोभ प्रभृति भावों में यद्यपि जीव स्वयं उपादान होता है, वही राग-रूप से परिणति करता है परन्तु यह जो भाव है वह कर्म निमित्तक है। अतएव इन्हें वह आत्मा के निज रूप नहीं मानता है। अन्य जीवों और संसार के समस्त अन्य अजीवों को वह अपना मान ही नहीं सकता। परन्तु जिन आत्म-विकास के स्थानों में पर का किञ्चित् मात्र भी निमित्त होता है उन्हें वह 'स्व' नहीं, 'पर' मानता है। निश्चय नय की दृष्टि से जीव बद्ध नहीं प्रतीत होता। कर्म बद्ध अवस्था जीव का त्रैकालिक स्वभाव नहीं है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि कर्म का क्षय होने पर उसकी सत्ता नहीं रहती है। निश्चय नय में जीव के विशुद्ध और निर्विकार स्वरूप का संदर्शन होता है, किन्तु जीव का वैभाविक-भाव परिलक्षित नहीं होता है। निश्चय नय में मन, तन और इन्द्रियाँ भी नहीं झलकती है। क्योंकि वे आज हैं, कल नहीं भी हैं। आत्मा का कर्म बद्ध रूप, स्पृश्य रूप, भेद रूप तथा अनियत रूप जो साधारण दृष्टि में झलकता है, पर है। आत्मा बद्ध नहीं है, अस्पृश्य है, नियत है और अभिन्न है। जब तक यह परिबोध नहीं होगा, तब तक जीव भव-बन्धनों से विमुक्त नहीं हो सकता। जहाँ पर विकल्प है, भेद है वहाँ निश्चय नहीं है। निश्चय नय वस्तुतः विकल्प और भेद से रहित होता है। उसमें देह, इन्द्रिय, मन, कर्म आदि से परे एकमात्र शुद्धतम आत्म-तत्व पर दृष्टि रहती है। कर्म पुद्‌गल का जो उदय भाव है वह यथार्थ में निश्चय दृष्टि का लक्ष्य नहीं है। उसका प्रमुख लक्ष्य है—व्यवहार नय को लांघकर परम विशुद्ध निर्विकार स्थिति पर पहुँचना, जहाँ पर किसी भी प्रकार का मोह नहीं है, क्षोभ नहीं है, पर्यायों की प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तित हो रही दशा, जो भेद रूप दृष्टिगोचर होती है, उससे भी परे जो अभेद-द्रव्यमय भाव है, जो अनादि काल से अशुद्ध नहीं हुआ है और जब वह अशुद्ध नहीं हुआ तब शुद्ध भी कहाँ रहा ? इस प्रकार अशुद्ध एवं शुद्ध इन दोनों से परे निर्विकल्प, त्रिकाली, एकमेवाद्वितीय निज स्वरूप है। वही शुद्ध निश्चय नय का स्वरूप है। शुद्ध निश्चय नय द्रव्य प्रधान है, वह नारक, तिर्यञ्च आदि पर्यायों को ग्रहण नहीं करता है। किन्तु आत्मा के विशुद्ध ज्योतिर्मय स्वरूप को ही ग्रहण करता है। अन्य कोई भी उसके लिये ज्ञातव्य नहीं रहता है और उपादेय भी नहीं रहता है।

आत्मा के असंख्यात और अनन्त विकल्पों का परित्याग कर स्व-स्वरूप की प्रतीति करना ही निश्चय नय है। निश्चय नय निमित्त को न पकड़ कर उपादान को ही पकड़ता है जब कि व्यवहार नय की दृष्टि निमित्त पर ही होती है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों में यह भी अन्तर है कि निश्चय नय अभेद प्रधान है और व्यवहार नय भेद प्रधान है। भेद में अभेद देखना यह निश्चय नय है और अभेद में भेद देखना यह व्यवहार नय का कार्य है। जब हम कहते हैं कि ज्ञान स्वयं आत्मा है तो यह निश्चय नय की भाषा है और ज्ञान आत्मा का एक मौलिक गुण है तो यह व्यवहार नय की भाषा हुई। यहाँ पर आत्मा गुणी है और उसका गुण 'ज्ञान' है। गुण कभी भी गुणी से विलग नहीं हो सकता। गुणी और गुण में अखण्डता और अभेदता होती है। व्यवहार नय की दृष्टि से आत्मा को गुणी माना जाता है और ज्ञान को उसका गुण माना गया है। यह भेद दृष्टि का प्रतिपादन है। जैन दर्शन के मन्तव्य के अनुसार गुणी और गुण का तादात्म्य सम्बन्ध है। किन्तु आधार-आधेय भाव का सम्बन्ध नहीं है जिस प्रकार घृत और पात्र में होता है। घृत आधेय है और उसका आधार पात्र है। पात्र में घी संयोग सम्बन्ध से रहता है। परन्तु घृत और पात्र की स्वतन्त्र सत्ता है। उनमें तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है जबकि जीव और उसके ज्ञान गुण का सम्बन्ध तादात्म्य है। जैन दर्शन के अभिमतानुसार गुणी और गुण में न एकान्त भेद होता है और न एकान्त अभेद। पर कथंचित् भेद है, और कथंचित् अभेद है। ज्ञानगुण जीव द्रव्य के अतिरिक्त कहीं नहीं रहता है। यह सद्‌भूत व्यवहार नय है।

निश्चय नय और व्यवहार नय इन दोनों को समझने के लिये कुछ तथ्य और भी ज्ञातव्य हैं। जीव और बद्ध होने वाले कर्म-पुद्‌गल को एक क्षेत्रावगाही बताया गया है। आकाश रूप क्षेत्र में जीव एवं कर्म दोनों रहते हैं। इन दोनों का एक ही क्षेत्र है। प्रस्तुत कथन व्यवहार दृष्टि से है। निश्चय नय की अपेक्षा से प्रत्येक द्रव्य अपने में ही रहता है। किसी दूसरे में नहीं। जीव जीव में रहता है, कर्म कर्म में रहता है। व्यवहार नय की दृष्टि से जीव और कर्म एक क्षेत्रावगाही और संयोगी होने से दोनों का क्षेत्र एक कहा गया है। जैसे दूध और पानी मिलने पर यह नहीं कहा जा सकता कि यह दूध का जल है। बल्कि कहा जाता है कि यह दूध है क्योंकि ये दोनों एकमेल हो गये हैं। किन्तु निश्चय नय की दृष्टि से दूध दूध है, पानी पानी है। एक क्षेत्रावगाही होने मात्र से दोनों एक नहीं हो सकते। वैसे ही जीव और कर्म एक क्षेत्रावगाही होने से एक नहीं हो सकते। जीव और कर्म इन दोनों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की सत्ता पृथक्-पृथक् है। दोनों का स्वभाव एक दूसरे से भिन्न है।

ज्ञाता का वह अभिप्राय विशेष 'नय' है जो प्रमाण के द्वारा जानी हुई वस्तु के एक अंश-विशेष को ग्रहण करता है। प्रमाण में अंश का विभाजन नहीं हो सकता। वह तो पदार्थ को समग्र भाव से ही ग्रहण करता है। जैसे—यह घड़ा है। घट अनन्त धर्मात्मक है। वह रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुण-धर्मों से संयुक्त है। उन गुणों का वर्गीकरण न करके सम्पूर्ण रूप से जानना 'प्रमाण' है और उन गुणों का विभाजन करके जानना 'नय' है। प्रमाण और नय ये दोनों ज्ञान की ही प्रवृत्तियाँ हैं। जब ज्ञाता की दृष्टि पूर्ण रूप से ग्रहण करने की होती है तब उसका ज्ञान 'प्रमाण' होता है। जब उसका उसी प्रमाण से ग्रहण की हुई पदार्थ को खण्ड-खण्ड रूप से ग्रहण करने का अभिप्राय होता है तब उस अंश-ग्राही अभिप्राय को 'नय' कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रमाण और नय ये दोनों ज्ञान के ही पर्याय हैं।

प्रमाण को सकलादेश कहा है और नय को विकलादेश कहा गया है। सकलादेश में पदार्थ के समस्त धर्मों की विवक्षा होती है। किन्तु विकलादेश में एक धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की विवेचना नहीं होती है।

सारपूर्ण शब्दों में यह कथन भी यथार्थता को लिये हुए है कि नयवाद जैन दर्शन का एक प्राणभूत तत्त्व है और दार्शनिक-विचारणाओं के समन्वय का आधार-स्तम्भ है।

जैन दर्शन में द्रव्य, सत्, पदार्थ, तत्त्व, तत्त्वार्थ आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः एक ही अर्थ में हुआ है। तत्त्व सामान्य के लिए इन सभी शब्दों का प्रयोग हुआ है। जैन दर्शन तत्वऔर सत् इन दोनों को एकार्थक मानता है। द्रव्य और सत् में भी एकान्ततः कोई भेद नहीं है। सत्ता सामान्य की अपेक्षा से सभी सत् हैं। जो सत् है वही अन्य रूप से असत् है। इसी मौलिक दृष्टि को संलक्ष्य में रख कर कहा गया है कि सब एक हैं, क्योंकि सभी सत् हैं।

सत् का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि सत् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। गुण और पर्याय वाला द्रव्य है। उत्पाद एवं व्यय के स्थान पर 'पर्याय' शब्द प्रयुक्त है और ध्रौव्य के स्थान पर 'गुण' शब्द का प्रयोग हुआ है। उत्पाद तथा व्यय परिवर्तन के सूचक हैं, ध्रौव्य नित्यता की संसूचना देता है। गुण नित्यता का सूचक है और पर्याय परिवर्तन का वाचक है। प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं—एकता और अनेकता। सदृशता और विसदृशता, नित्यता और अनित्यता, स्थायित्व और परिवर्तन, इन दोनों में से प्रथम पक्ष ध्रौव्य का वाचक है, गुण का सूचक है। द्वितीय पक्ष उत्पाद और व्यय का प्रतीक है, पर्याय सूचक है। पदार्थ के स्थायित्व में स्थिरता रहती है, एकरूपता होती है। परिवर्तन में पूर्व रूप का क्षय होता है और उत्तर रूप की उत्पत्ति होती है। पदार्थ के उत्पाद एवं विनाश में व्यय और उत्पत्ति के रहते हुए पदार्थ सर्वथा रूप से विनष्ट नहीं होता, न सर्वथा नवीन ही उत्पन्न होता है। उत्पाद एवं विनाश के मध्य एक प्रकार की स्थिरता रहती है, जो न विनष्ट होता है और न उसकी उत्पत्ति ही होती है।

जैनसाहित्य का परिशीलन-अनुशीलन करने से विदित होता है कि 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग सामान्य के लिये भी हुआ है। सामान्य एवं जाति को प्रगट करने के लिये द्रव्य और व्यक्ति या विशेष को प्रगट करने के लिये 'पर्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता है। सामान्य या द्रव्य दो प्रकार का है। तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य। एक ही काल में अवस्थित अनेक देश में रहने वाले, अनेक पदार्थों में जो सदृशता की अनुभूति होती है उसे 'तिर्यक् सामान्य' कहते हैं। जब कालकृत भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में किसी द्रव्य का अन्वय अथवा एकत्व विवक्षित हो, एक विशेष वस्तु की अनेक अवस्थाओं की एक-एकता अथवा ध्रौव्य अपेक्षित हो, तब उस ध्रौव्य सूचक अंश को ऊर्ध्वता-सामान्य कहा जाता है।

जिस प्रकार सामान्य का वर्गीकरण दो प्रकार से हुआ है उसी प्रकार विशेष के दो प्रकार हैं—तिर्यक् सामान्य के साथ रहने वाले जो विशेष विवक्षित हों, वह तिर्यक् विशेष कहलाता है और ऊर्ध्वता सामान्याश्रित जो पर्याय हो, उसे ऊर्ध्वता विशेष कहते हैं। द्रव्य के ऊर्ध्वता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्याश्रित पर्यायों को परिणाम भी कहा गया है। विशेष तथा परिणाम ये दोनों द्रव्य के परिणाम हैं, क्योंकि ये दोनों परिवर्तनशील हैं। परिणाम में काल-भेद की प्रमुखता अवश्य रहती है जब कि विशेष में देश-भेद की प्रधानता होती है। जो काल की दृष्टि से परिणाम हैं वे ही देश-दृष्टि से विशेष हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पर्याय, परिणाम, विशेष, उत्पाद और व्यय ये सभी शब्द एकार्थक हैं। द्रव्य-विशेष की विविध अवस्थाओं में इन समस्त शब्दों का अन्तर्भाव हो जाता है। द्रव्य और पर्याय का यथार्थ स्वरूप समझ लेने के पश्चात् यह जान लेना अति आवश्यक है कि द्रव्य और पर्याय इन दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है। द्रव्य और पर्याय ये दोनों एक-दूसरे से भिन्न हैं या अभिन्न हैं? इस विचारणीय प्रश्न का समाधान यह है कि आत्मा एक द्रव्य है और सामायिक आत्मा की एक अवस्था-विशेष है अर्थात् उसकी एक पर्याय है। सामायिक आत्मा से भिन्न नहीं है। तथ्य यह है कि पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं है। यह द्रव्य और पर्याय की अभेद दृष्टि है। इस दृष्टिकोण का जो समर्थन हुआ है वह आपेक्षिक है। किसी दृष्टि से आत्मा और सामायिक ये दोनों एक हैं। क्योंकि सामायिक आत्मा की एक अवस्था है—आत्म-पर्याय है। अतएव सामायिक आत्मा से अभिन्न है, अभेद है। अन्यत्र द्रव्य और पर्याय के भेद का समर्थन किया गया है। पर्याय अस्थिर है, तथापि द्रव्य स्थिर है। इस कथन से स्पष्टतः भेद-दृष्टि झलकती है। यदि द्रव्य और पर्याय इन दोनों का परस्पर में एकान्ततः अभेद होता तो पर्याय के विनष्ट होते ही द्रव्य का भी क्षय हो जाता। इसका अर्थ यह है कि पर्याय द्रव्य नहीं है। द्रव्य और पर्याय ये दोनों कथंचित भिन्न हैं। पर्याय बदलती रहती है किन्तु द्रव्य अपने आप में अपरिवर्तनशील है। पर्याय-दृष्टि की प्रमुखता की दृष्टि से द्रव्य एवं पर्याय इन दोनों के कथंचित् भेद का समर्थन किया जा सकता है। द्रव्य-दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के कथंचित् अभेद की परिपुष्टि की जा सकती है। दृष्टि-भेद से द्रव्य और पर्याय के अभेद एवं भेद की विवेचना की जाती है।

इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध में भी चिन्तन किया गया है। ज्ञान आत्मा का एक मौलिक और अतीव विशिष्ट गुण है। ज्ञान की अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। किन्तु 'आत्मा' द्रव्य वही रहता है। ऐसी अवस्था में ज्ञान और आत्मा कथंचित् भिन्न है। ज्ञान गुण की आत्मा से भिन्न सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह आत्मा की ही एक अवस्था विशेष है। इस दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और ज्ञान इन दोनों में कथंचित् अभिन्नता है। यदि ज्ञान और आत्मा में एकान्ततः अभेद होता तो ज्ञान गुण के विनाश के साथ ही साथ 'आत्म द्रव्य' का भी क्षय हो जाता। ऐसी अवस्था में एक शाश्वत-अक्षय 'आत्मा' द्रव्य की सिद्धि नहीं होती। यदि आत्मा और ज्ञान इन दोनों में कथंचित् भेद नहीं होता तो एक व्यक्ति के ज्ञान और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता। एक व्यक्ति के ज्ञान की स्मृति अन्य व्यक्ति को भी हो जाती। अथवा इस व्यक्ति के ज्ञान का स्मरण उसे स्वयं को भी नहीं हो पाता। ऐसी अवस्था में ज्ञान के क्षेत्र में अव्यवस्था हो जाती। अतएव आत्मा और ज्ञान का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद मानना ही सर्वथा उचित है। तथ्य यह है कि द्रव्य-दृष्टि से आत्मा और ज्ञान का अभेद सम्बन्ध है। और पर्याय की अपेक्षा से दोनों का भेद मानना चाहिये।

द्रव्य के कितने भेद हैं? प्रस्तुत प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि जहाँ तक द्रव्य सामान्य का प्रश्न है सब एक हैं। वहाँ किसी भी प्रकार की भेद-कल्पना समुत्पन्न ही नहीं है। जो द्रव्य है, वह तत्त्व है और सत् है। सत्ता सामान्य की दृष्टि से चिन्तन किया जाय तो एक और अनेक, सामान्य और विशेष, चेतन एवं अचेतन गुण और पर्याय सभी एक है। अनेक नहीं है। उक्त दृष्टिकोण संग्रह नय की अपेक्षा से सत्य है। संग्रह नय सर्वत्र अभेद देखता है। भेद की उपेक्षा करके अभेद का जो ग्रहण है वह संग्रह नय का प्रमुख कार्य है। इसी सन्दर्भ में यह तथ्य भी ज्ञातव्य है कि अभेदग्राही संग्रह नय भेद का निषेध नहीं करता है। अपितु भेद को अपने क्षेत्र से बाहर अवश्य समझता है। प्रस्तुत नय का अन्तिम विषय सत्ता सामान्य है। हर द्रव्य सत् है। सत्ता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य का जो ग्रहण है वह एकता का अन्तिम सोपान है। जहाँ समूचे भेद भेद-रूप से सत् होते हुये भी अभेद रूप से प्रतिभासित होते हैं। सत्ता भेदों को विनष्ट नहीं करती है अपितु उनमें सद्भाव और एकत्व संस्थापित करती है, भेद के रहते हुए भी अभेद का संदर्शन होता है अनेकता में भी एकता दृष्टि-गोचर होती है। इस दृष्टि से द्रव्य अथवा तत्त्व एक है।

यदि हम द्वैत-दृष्टि से चिन्तन करते हैं तो द्रव्य को दो रूपों में देख सकते हैं। ये दो रूप इस प्रकार हैं—जीव और अजीव। चैतन्य धर्म वाला 'जीव' है और उससे सर्वथा विपरीत 'अजीव' है। इस प्रकार समूचा लोक दो विभागों में विभक्त हो जाता है। जीव और अजीव के अन्य भेद करने पर द्रव्य के छः भेद हो जाते हैं। जीव द्रव्य अरूपी है, अमूर्त्त है। अजीव द्रव्य के दो भेद हैं—रूपी और अरूपी। पुद्गल रूपी द्रव्य है। अरूपी अजीव द्रव्य के चार भेद हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल। इन छः द्रव्यों में प्रथम के पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं और काल द्रव्य अन-स्तिकाय है।

अस्तिकाय का अभिप्राय है—प्रदेश-बहुत्व। अस्ति और काय इन दो शब्दों से अस्तिकाय शब्द निर्मित हुआ है। 'अस्ति' का शब्दार्थ है—विद्यमान होना और काय का अर्थ है—प्रदेशों का समूह। जहाँ अनेक प्रदेशों का समूह होता है उसे 'अस्तिकाय' कहते हैं। उक्त छहों द्रव्यों के समुच्चय को लोक कहा गया है। लोक का ऐसा कोई विभाग नहीं है जहाँ पर यह द्रव्य न हो। सभी द्रव्यों के लिये लोक आधारभूत है। इसी सन्दर्भ में एक चिन्तनीय प्रश्न खड़ा होता है कि लोक का स्वरूप षड्द्रव्यात्मक क्यों है? क्या इनके अतिरिक्त अन्य कोई द्रव्य नहीं है? इसका समाधान यह है कि इस चराचर विश्व में प्रमुख द्रव्य दो हैं—जीव और अजीव। वे स्थिर भी हैं और गतिशील भी हैं। यह स्थिति और गति बिना आधार के नहीं हो सकती। जीव एवं पुद्गल की गति और स्थिति आदि के कारण क्या है? इन कारणों की विवेचना ही समूचा लोक है और उन सभी कारणों को संलक्ष्य में रखकर ही छः द्रव्य माने गये हैं। इन छहों द्रव्यों में धर्मास्तिकाय द्रव्य गति का सहायक कारण है और अधर्मास्तिकाय द्रव्य स्थिति का है। इस गति और स्थिति का आधार आकाशास्तिकाय द्रव्य है और उस में लगने वाले समय का बोधक काल द्रव्य है। यह गति और स्थिति रूप क्रिया करने वाले दो द्रव्य हैं—एक है जीवास्तिकाय और दूसरा है पुद्गलास्तिकाय। हम जो कुछ भी विविधताएं और विचित्रताएँ देखते हैं, वे सभी जीव एवं पुद्गल द्रव्य पर आधारित हैं। इनके द्वारा लोक-व्यवस्था का चक्र चलता रहता है। ये सभी द्रव्य अनादि-अनन्त हैं।

छहों द्रव्यों में आकाश द्रव्य सर्वत्र व्यापक है और अन्य द्रव्य उसके व्याप्य हैं। आकाश धर्म-अधर्म आदि शेष पाँच द्रव्यों के साथ भी रहता है और उनके अतिरिक्त उनसे बाहर भी रहता है। वह अनन्त है। अतः आकाश के जितने विभाग में छहो द्रव्य रहते हैं, उसको लोक कहा जाता है। लोक के अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश अलोक हैं।

यह समूचा लोक शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है। इस लोक को किसी ने बनाया नहीं है और न कोई इसका रक्षक है, न नाशक है। किन्तु यह अनादि है, जीव और अजीव से व्याप्त है। यद्यपि लोकाकाश और अलोकाकाश की सीमा-विभाजन करने के लिये दोनों के मध्य कोई रेखा-विशेष खींची हुई नहीं है तथापि एक प्राकृतिक भेद अवश्य है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्य जितने आकाश के क्षेत्र में विद्यमान हैं उतने क्षेत्र को लोकाकाश कहा गया है और उसके अतिरिक्त शेष अनन्त आकाश को अलोकाकाश कहा जाता है। आकाश द्रव्य में धर्म-अधर्म आदि द्रव्यों को अवकाश देने के गुण को एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया गया है। जैसे घड़ा है, उसमें जल भरा है। उस जलपूर्ण घट में इतनी भी जगह नहीं है कि अन्य कोई वस्तु डालने पर उसमें समा जाए। लेकिन यदि उसमें मुट्ठी भर शक्कर डाल दी जाए तो वह भी उसमें समा जाती है और जल का स्तर भी उतना ही बना रहता है। प्रश्न उद्बुद्ध होता है घड़ा जब जल से भरा है तो शक्कर को समाने के लिये घट में स्थान कहाँ से आया? इसका समाधान यह है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घड़े में पानी भरा है, पर उस जल में भी आकाश है। वह आकाश ही अन्य वस्तुओं को अवकाश देता है। अतएव शक्कर के उदाहरण के अनुसार धर्म-अधर्म पुद्गल आदि द्रव्य भी आकाश में अवकाश देने के कारण अवस्थित है।

इस षड्द्रव्यात्मक लोक का आकार 'सुप्रतिष्ठक संस्थान' वाला है। जमीन पर एक सकोरा उलटा, उस पर दूसरा सकोरा सीधा और उस पर तीसरा सकोरा उलटा रखने से जो आकार बन जाता है वही लोक का आकार होता है। लोक के इस आकार का कथन अन्य रूपक के द्वारा भी समझाया गया है। जैसेकि इस लोक का आकार कटि-प्रदेश पर हाथ रखकर तथा पैरों को पसार कर नृत्य करने वाले व्यक्ति के समान है। अतः लोक को पुरुषाकार की उपमा से उपमित किया गया है। प्रथम रूपक में औंधे सकोरे पर दूसरे सीधे और तीसरे औंधे सकोरे के रखने से बनने वाली आकृति सुगमता से समझ में आ जाती है और यह औंधे और फिर सीधे और फिर उलटे सकोरे के रखने से बनने वाले आकार से लोक के अधोलोक, मध्यलोक एवं ऊर्ध्वलोक के आकार का परिबोध भी सरलता से हो जाता है। प्रथम उलटे रखे हुये सकोरे के समान अधोलोक है, ऊपर सकरा और नीचे चौड़ा दूसरे सीधे रखे हुये सकोरे के तल भाग के सदृश मध्यलोक और उससे लेकर पाँचवें देवलोक तक का भाग नीचे सकरा और ऊपर चौड़ा है तथा द्वितीय के ऊपर रखे गये तृतीय उलटे सकोरे के समान पाँचवें देवलोक से लेकर सर्वार्थसिद्ध विमान तक का आकार है।

इस समूचे लोक के अधः, मध्य और ऊर्ध्व यह तीन विभाग होने का मध्य बिन्दु मेरु पर्वत के मूल में है। इस मध्यलोक के बीचोबीच जम्बूद्वीप है और जम्बूद्वीप के भी मध्य में मेरु पर्वत है जिसका पाया जमीन में एक हजार योजन और ऊपर जमीन पर ६६००० योजन ऊँचा है। जमीन के समतल भाग पर इसकी लम्बाई-चौड़ाई चारों दिशाओं में दस हजार योजन की है।

मेरु पर्वत के पाये के एक हजार योजन में नौ सौ योजन के नीचे अधोलोक प्रारम्भ हो जाता है और सातवें नरक तक का लोक 'अधोलोक' है। अधोलोक के ऊपर १८०० योजन तक 'मध्यलोक' है। मध्यलोक के ऊपर का सभी क्षेत्र मुक्ति स्थान पर्यन्त 'ऊर्ध्व लोक' है। इन तीनों लोकों में अधोलोक एवं ऊर्ध्वलोक इन दोनों की ऊँचाई, चौड़ाई से अधिक है तथा मध्यलोक में ऊँचाई की अपेक्षा लम्बाई-चौड़ाई अधिक है। क्योंकि मध्यलोक की ऊँचाई तो केवल १८०० योजन-प्रमाण और लम्बाई-चौड़ाई एक रज्जू प्रमाण है।

सारपूर्ण शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जहाँ हम रहते हैं वह लोक है। लोक का सद्भाव अलोक के अभाव में नहीं हो सकता। अतः अलोक भी है। लोक और अलोक का विभाजन नवीन नहीं है, शाश्वत है, नित्य है, ध्रुव है और उनके विभाजन के जो तत्त्व हैं वे शाश्वत हैं। यह एक ज्ञातव्य तथ्य है कि कृत्रिम पदार्थ से शाश्वतिक वस्तु का विभाजन नहीं हो सकता। छहों द्रव्य शाश्वतिक है, अनादि निधान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org